हिंदी उपन्यास में लोक-संस्कृति

संपादक

पूनम सिन्हा

त्रिविक्रम नारायण सिंह

हिन्दी उपन्यास में लोक संस्कृति

सम्पादक

पूनम सिन्हा

त्रिविक्रम नारायण सिंह

समीक्षा प्रकाशन

दिल्ली/मुजफ्फरपुर

ISBN : 978-93-87638-85-3

प्रथम संस्करण
2020

सर्वाधिकार ©
सम्पादक

प्रकाशक
समीक्षा प्रकाशन
जे.के.मार्केट, छोटी कल्याणी
मुजफ्फरपुर (बिहार)-842 001
फोन : 09334279957, 09905292801
E-mail : samikshaprakashan@yahoo.com
www : samikshaprakashan.blogspot.com
samikshaprakashan.in

दिल्ली कार्यालय
आर-27, रीता ब्लॉक
विकास मार्ग, शकरपुर, दिल्ली-92
मो.-07970692801

पृष्ठ-सज्जा
सतीश कुमार

मुद्रक
बी०के० ऑफसेट,
शाहदरा, दिल्ली।

मूल्य
400.00 (चार सौ रुपये)

Hindi Upanas Me Lok Sanskriti
Edited by **Poonam Sinha** **Rs. 400.00**

अनुक्रम

सम्पादकीय.... 05

- भारतीय संस्कृति लोक संस्कृति में जीवंत है : डॉ. मृदुला सिन्हा 11
- डॉ. रांगेय राघव के उपन्यासों में लोक संस्कृति : डॉ. उषा किरण खान 19
- लोक जीवन और उपन्यास : प्रो. सत्यकाम 24
- उपन्यास और लोक-संस्कृति : रेवती रमण 43
- घरवास : लोक जीवन से साक्षात्कार : पूनम सिन्हा 49
- सुर बंजारन : लोक से विलुप्त होते सुरों की धड़कन : पूनम सिन्हा 57
- हिंदी उपन्यासों में लोकसंस्कृति : रामधारी सिंह दिवाकर के उपन्यासों में लोकसंस्कृति : हरिनारायण ठाकुर 69
- हिन्दी उपन्यासों में लोक-संस्कृति के विविध आयाम 'देहाती-दुनिया' के संदर्भ में : प्रो. सुधा बाला 78
- लोकसंस्कृति का ऐतिहासक दस्तावेज अगन हिंडोला : प्रो. मंगला रानी 88
- लोकजीवन को सहेजने वाली कथाकार : उषा किरण खान : सुनीता गुप्ता 94
- आंचलिक उपन्यास में लोक-संस्कृति : डॉ. शैल कुमारी वर्मा 101
- मैला आँचल में लोक संस्कृति की झलक : डॉ. त्रिविक्रम ना. सिंह 107
- फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों में लोक संस्कृति के विभिन्न चित्र : डॉ. धीरेन्द्र प्रसाद राय 116
- अमृतलाल नागर के उपन्यासों में लोक संस्कृति : डॉ. कल्याण कुमार झा 124
- लोक जीवन की यथार्थवादी एवं आदर्शवादी चेतना का सच्चा दस्तावेज 'मैला आंचल' : स्वर्णिम शिप्रा 133
- आँचलिक उपन्यासों में लोक-संस्कृति : पल्लवी कुमारी 142
- 'गोदान' में लोक-संस्कृति : स्मृता 148
- प्रेमचन्द के उपन्यासों में लोक-संस्कृति : उमेश मल्लिक 153

- 'गोदान' में निहित लोक-संस्कृति के चित्र : रवि कुमार 157
- नागार्जुन के उपन्यासों में लोक-संस्कृति : डॉ. इन्दिरा कुमारी 161
- काशीनाथ सिंह के उपन्यासों में लोक संस्कृति : डॉ. दुर्गानन्द यादव 168
- रामधारी सिंह दिवाकर के उपन्यासों में लोक-संस्कृति : वेदांत चंदन 176
- अनामिका के उपन्यासों में लोक-संस्कृति : सिन्धु कुमारी 182
- हिंदी उपन्यास में लोक-संस्कृति : शिव प्रिया 188
- भगवानदास मोरवाल के उपन्यास 'हलाला' में लोकसंस्कृति : रेशमी कुमारी 191
- रेणु के उपन्यासों में लोक संस्कृति : स्मिता कुमारी 194
- संस्कृति की सामासिकता : डॉ. वीणा शर्मा 198
- आंचलिक उपन्यासों में लोक-संस्कृति : विनीता कुमारी 205

संगोष्ठी प्रतिवेदन 210

■

उपन्यास और लोक-संस्कृति

रेवती रमण

'लोक संस्कृति' किसी देश के क्षेत्र विशेष के जनसाधारण की संस्कृति है। वह क्षेत्र विशेष गाँव हो सकता है, अंचल या जनपद हो सकता है। इसके अन्तर्गत वहाँ की बोली-बानी, खान-पान, रहन-सहन और सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों का समावेश संभव है। जातीय संस्कृति समुन्नत होती है, व्यापक भी।

'संस्कृति' सभ्यता का आत्मनीड़ है। उसमें तेजी से बदलाव दृश्यांकित होता है। विवाद मुक्त नहीं, यह कहना की सभ्यता देह है, देह की सज्जा है और संस्कृति उसकी आत्मा। हम बिना देह के आत्मा की कल्पना नहीं कर सकते तो बिना आत्मा के देह की सार्थकता पर विचार भी नहीं कर सकते। यह कहना निराधार नहीं है कि 'लोक संस्कृति' ही जातीय संस्कृति की आधार-संरचना है। 'लोक संस्कृति' आधार है और 'जातीय संस्कृति' अधिरचना। लोकतंत्र में दोनों की भूमिका सम्मान के योग्य समझी जाती है।

'संस्कृति' प्रकृति का अभिसार है। इसमें 'है' से अधिक 'होने' का विकल आह्वान है। संस्कृति और प्रकृति का पूर्वापर संबंध तय करना कठिन है। किन्तु आचार-व्यवहार में सदाशयता सुसंस्कृत मनुष्यों की पहचान है। संस्कार हो, परिष्कार हो, मनुष्य की ऊर्ध्वमुखी चेतना के लिए अनिवार्य है। सृष्टि का श्रृंगार मनुष्य है तो अपनी समृद्ध मनुष्यता के बल पर ही। मनुष्यता के अभाव में संस्कृतियाँ मूल्य-वंचना की गिरफ्त में चली जाती है। वैसे, संस्कृति देवताओं की भी होती है, दानवों की भी। आचार्य चतुरसेन ने तो 'रक्ष संस्कृति' को ही आधार बनाकर 'वयंरक्षामः' उपन्यास लिखा था।

जिसे 'भू-मंडलीकरण' कहा जाता है, ज्ञानेन्द्रपति उसे भू-मंडीकरण कहते हैं। तो एक 'बाजार की संस्कृति' भी इन दिनों चर्चा में है। यह बहुत बड़ा संकट है। बाजार क्रय-विक्रय की जगह है। संप्रति, इसका तेजी से प्रसार हो रहा है। इसमें संस्कृति के सब उपादान 'वस्तु' के रूप में अपने विक्रय के लिए विज्ञापन करने लगे हैं। इससे वैविध्य की स्वायत्तता गौण हो चली है। स्थानिक वैशिष्ट्य को निगलकर एकरूपता वर्चस्व की विचारधारा बन गई है। एक राष्ट्र, एक भाषा, एक संस्कृति के परमेश्शन से संस्कृतियों के समागम में व्यवधान आ गया है।

यहाँ विचारणीय है 'लोक संस्कृति', वह भी आख्यान के विशेष संदर्भ में तो हमारा ध्यान मूलभूत मनुष्य की दिनचर्या और अभिरुचि पर जाता है। उपन्यास में इसका अभिप्राय स्थानिक उपकरणों से है। सभ्यता की तेज रफ्तार में जो कहीं पीछे छूट गया है वह हृदय प्रदेश। और वह अमूमन स्मृति-निर्भर या स्मृत्याभास-निर्भर कल्पना के सहारे लेखक की रचना-मनीषा में जगह बनाता है। उसे विकास की वर्तमान संकल्पना के विलोम में ही देखना एक भ्रान्त धारणा है। दरअसल, 'लोक संस्कृति' कोई स्थगित जीवन-द्रव्य नहीं है। संस्कृति के अन्य प्रारूपों की तरह 'लोक संस्कृति' में भी बदलाव के लक्षण देखे जा सकते हैं।

लोक का 'फोक' होना निरापद नहीं है। पं. विद्यानिवास मिश्र की नजर में 'लोक' का अर्थ है 'विश्व'। तीन लोक और चौदह भुवन। लोक का शास्त्र होता है और शास्त्र का लोक भी होता है। किन्तु लोक और शास्त्र का द्वन्द्व भी विमर्श का विषय है। लोक 'पृथ्वीलोक' है, पाताल है। निराला जिसे 'नभोदेश' कहते हैं वह भी एक लोक है, महाकाश जहाँ शिव का निवास है। स्वर्गलोक, इन्द्रलोक, संभ्रान्त लोक और भी कई लोक हैं। नाग लोक भी है। प्रागैतिहासिक परिवेश में त्रैलोक्य-भ्रमण की सुविधा थी। नारद जी सब लोकों में विचरण करते रहते थे।

बावजूद इसके, लोक जीवन का अर्थ है सामान्य जन-जीवन। उसमें भी वर्णभेद है, ऊँच-नीच का विचार है। दलितों में भी एक ही पंक्ति नहीं होती। किन्तु उसमें सब की सहभागिता आकर्षित करती है। पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, ओझा-गुणी सबकी। नागार्जुन के उपन्यासों में मिथिला की लोक संस्कृति का रंग-वैविध्य खासा रोचक है। वहाँ पहाड़ नहीं है। समुद्र नहीं है। किन्तु धान के खेत अवश्य हैं, मछलियों से भरा पोखरा,

[illegible]। आम के पेड़ों की कई प्रजातियाँ हैं। मिथिलांचल है तो मैथिल मानुस भी हैं। 'देश' लोक का अपना होता है जबकि 'राष्ट्र' एक सपना, आकांक्षा, संकल्पना। पढ़े लिखे संपन्न और प्रभु वर्ग की आकांक्षा का भूगोल। उपन्यास से संबद्ध रैल्फ फॉक्स की एक प्रसिद्ध पुस्तक है 'उपन्यास और लोक जीवन'। अंग्रेजी में इसका नाम है 'द नॉवेल एण्ड द पीपुल'। द पीपुल का अनुवाद नरोत्तम नागर ने लोक जीवन किया है। संस्कृति जीवन से जुड़ी हुई है और जीवन व्यापक अर्थ में लोक जीवन है। इसलिए लोक संस्कृति पशिक्षित जनता के संदर्भ में जन संस्कृति कही जाती है। 'लोक संस्कृति' जन संस्कृति की तुलना में बड़ी है, अपेक्षा व्यापक है। बड़ा हो, छोटा हो, अभिजन हो, वनवासी हो, दलित हो संस्कृति फलों से लदी वह टोकरी है जो सर्वसाधारण के माथे पर ढोयी जाती है। वह व्याकरण की दृष्टि से स्त्रीलिंग है, स्त्री है। तो संस्कृति के उन्नत या अवनत होने के साक्ष्य स्त्रियाँ ही देती हैं। वे भी मनुष्य हैं। वैसे, मनुष्य मनुष्य में फर्क है। एक मनुष्य वह है जो खेतों में काम करता है, कल-कारखानों में काम करता है। वह सर्वहारा है। दूसरा वह है जो शासन करता है, आदेश देता है। वह उत्पादकों की श्रम का शोषण करता है। उसकी भी एक संस्कृति होती है–राजन्य संस्कृति। राजे नहीं रहे, सामन्त नहीं रहे, जमींदार नहीं रहे। किन्तु राजन्य संस्कृति लोकतंत्र में लक्षित होती है, सामन्ती संस्कृति भी। जमींदारों की शान देखनी हो तो फकीर मोहन सेनापति से लेकर प्रेमचंद और रेणु की रचनाओं में इसके विपुल साक्ष्य मिलेंगे। प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' से लेकर 'गोदान' तक में संस्कृतियों की टकराहट सुनी जा सकती हैं। रेणु का 'मैला आँचल' हो, 'परती परिकथा' हो, नागार्जुन का 'बलचनमा' हो, 'बाबा बटेसरनाथ' हो या 'बरुण के बेटे' हो, लोक संस्कृति की विविधता उनमें देखी जा सकती है। उनमें एक वह समाज भी है जो क्रिस्टोफर कॉडवेल की दृष्टि से डाइंग कल्चर का उदाहरण है।

संस्कृति ही नहीं, 'लोक संस्कृति' को भी समाजशास्त्रीय दृष्टि से व्याख्यायित करने की जरूरत है। प्रकारान्तर से साहित्यिक शब्दावली में वह भी एक आर्थिक विमर्श ही है। कॉउवेल मानते हैं कि संस्कृति को समाज की आर्थिक स्थिति से अलग करके नहीं देखा जा सकता। अत: लोक संस्कृति के संदर्भ में इण्टरडिसिप्लीनरी विचार अपेक्षित है। उपन्यास

की समावेशी संरचना को देखते हुए यह माँग अनुचित नहीं है। विरोध या प्रतिरोध ही सब कुछ नहीं। उत्तर-आधुनिकता ने सबकी पोल खोल दी है। इसमें जान लेना भी क्रान्ति-प्रक्रिया में भागीदारी करना है। 'लोक-संस्कृति' में ज्ञान की दिशा एकरेखीय नहीं है। इसमें प्रवाचक से लेकर पाठक तक हाशिये के समाज से परिचित होते हैं। हाशिये का समाज, समाज के हाशिये पर हो सकता है। वह वर्चस्व की संस्कृति का नेपथ्य है। मंच पर प्रकाश में सब समय वर्चस्व की विचारधारा ही हो तो लोक संस्कृति का चित्रण केवल आस्वाद बदलने का जरिया हो सकता है। उत्पादन के काम में लगी जनता के श्रम पर ही टिकी है ऐश्वर्य और उपभोग की सभ्यता। उसकी खिलाफत एक रचना-रूढ़ि नहीं भी हो सकती है। आवश्यक नहीं कि प्रतिरोध हर बार एक फैशन ही हो। साधन-सम्पन्न लोगों के अन्तर्विरोधों को उभारकर प्रस्तुत करने के लिए भी अनिवार्य है 'लोक संस्कृति' का सवाक् गति चित्र। भगवान दास मोरवाल सरीखे लेखक यह कर रहे हैं तो निश्चित ही बड़ा काम कर रहे हैं।

आज के उच्चवर्ग की विलासिता तकनीक और उपभोग-वृत्ति का मिश्रण है। उसकी भाषा-रूढ़ि भी संस्कृति-विमर्श का विषय है। वह पाठक-रुचि को कुन्द करती है, जड़ीभूत अभिरुचि जीवन्त आख्यान के विकास की बाधा है। उसके विभावन की भी। आम आदमी भाषिक आभिजात्य से जूझता है। लोक संस्कृति के चित्रण में आंचलिक भाषा की बड़ी भूमिका होती है, वह प्रशासन की भाषा की तरह कथ्य को छिपाने नहीं खोलने में सक्रिय लक्षित होती है। साहित्य की भूमि मनुष्यता की भूमि होती है और मनुष्यता शिक्षा या सभ्यता की सहचरी नहीं भी हो सकती है। रामायण में राम 'लोकाराधन' करते हैं और 'रामचरितमानस' में तुलसीदास जी 'लोकमंगल' का लक्ष्य लेकर चले हैं। 'लोकाराधना' हो या 'लोकमंगल' लोक संस्कृति के विशाल पृष्ठाधार पर ही अस्तित्व ग्रहण करते हैं। आज का सभ्यताक्रान्त समाज भ्रमवश 'लोक संस्कृति' को ग्रामांचल की संस्कृति तक सीमित समझ लेता है तो वह अर्थ-संकोच का उदाहरण बन जाती है। यह तथाकथित वैज्ञानिक समझी जाने वाली अनुसंधान-प्रविधि का परिणाम है। ग्राम्य संस्कृति बोलियों में प्रकट होती है किन्तु अक्सर वह वाचिक परम्परा को ही समृद्ध करती है। उसका लिखित रूप आलोचना में कम आदरणीय समझा जाता है।

प्रसंगवश, याद आते हैं आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। उनके 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' के भरत वाक्य में आता है–**'तजि ग्राम कविता** सुकविजन **की** अमृतवाणी **सब कहैं।'** ग्राम कविता से उनका आशय हो सकता है अप संस्कृति को बढ़ावा देने वाली कविता और 'सुकविजन' से सूर तुलसी जायसी आदि। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को आचार्य शुक्ल ने सिद्ध भाषा का अत्यंत सरस हृदय कवि कहा था। तब सिद्ध भाषा से उनका अभिप्राय या कोमल कान्त पदावली की भाषा, ब्रजभाषा। रीतिकविता राजन्य संस्कृति से नाभिनालबद्ध कविता है। यह आधुनिक है जिसने राजभक्ति को पीछे छोड़कर देश-भक्ति को महत्त्व दिया। गद्य में यह अपने सामाजिक आशय के साथ बेहतर लक्षित होती है। आधुनिकता नाटकों के सहारे शुरू-शुरू में आगे बढ़ी, किन्तु रंगमंच के अभाव में नाटक से अधिक हिन्दी में वह उपन्यासों में उजागर हुई।

सच तो यह है कि हिन्दी उपन्यास अपने उद्‌भव के समय से ही लोकोन्मुख रहा है। वह आरंभ से ही सार्थक स्त्री-विमर्श भी है। 'भाग्यवती' हो या 'देवरानी जेठानी की कहानी' है तो स्त्री-विमर्श ही। तिलिस्म और ऐय्यारी के उपन्यासों में भी लोक जीवन को कम स्पेस नहीं मिला है। किन्तु प्रेमचन्द ने समग्रता में हिन्दी प्रदेशों की अन्तर्कथा कही तो 'लोक संस्कृति' के विशाल प्रांगण में ही।

एक वह समय भी आया जब डॉ. लक्ष्मी नारायण सुधांशु ने 'ग्रामगीत का मर्म' लिखा। समय अवधारणा बदल देता है या अवधारणा समय, लोकायत और सनातन का द्वन्द्व कभी खत्म नहीं होता। प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास में सबाल्टर्न की पगचाप अधिक स्पष्ट सुनी जा सकती है। उपन्यास की प्रकृति ही विचित्र है। उसमें साधारण, अतिसाधारण के लिए ऊँची जगह होती है कविता का अपना एक अपरिहार्य आभिजात्य होता है। इसलिए निराला 'कुकुरमुत्ता' लिखकर जो सब नहीं कर सके, वह 'बिल्लेसुर बकरिहा' लिखकर कह दिया। तात्पर्य यह कि साहित्य मात्र लोक संस्कृति है किन्तु उपन्यास की बात ही कुछ और है। उपन्यास की वास्तविक अन्तर्वस्तु लोक संस्कृति ही है। यथार्थवादी उपन्यास मनोविज्ञान का आधार लेकर भी लिखे जाते हैं किन्तु महाकाव्यात्मक उपन्यास-लेखन में लोक संस्कृति का रम्यांचल कई बार एक बड़े रणक्षेत्र के रूप में

वर्णित होता है। उसमें चरित्रों का वैविध्य होता है, वातावरण और परिवेश कुछ अद्भुत अपूर्व। शहरी पाठक एक नई दुनिया में प्रवेश करता है। एक ऐसी दुनिया जो मौजूदा सभ्यता और सरकार के लिए बड़ी चुनौती है।

कविता चकाचौंध उत्पन्न करने हेतु अलंकार शास्त्र का सहारा लेती है। अन्योक्ति समासोक्ति के अतिरिक्त वह दृष्टान्त और रूपक की शरण लेती है। सपनों की उसमें बड़ी भूमिका होती है। सपने आंचलिक कथानायकों के भी होते हैं। किन्तु अन्तर्वस्तु स्थूल यथार्थ के हवाले न हो जाये इसलिए महाकवि प्रतीयमान का प्रयोग करते हैं। अर्थात् कवि-कौशल यथार्थ के असह्य रूप को सहज ग्राह्य बनाने हेतु किया गया उपक्रम है। यथातथ्य स्वप्नाविष्ट होकर, भाव संवलित होकर काव्य सत्य में रूपान्तरित हो जाता है। तब पाठक अपने ही अन्तर्विरोधों की कथा पढ़कर मर्माहत होता है, आनन्दित भी। तो क्या 'लोक संस्कृति' नागरिक व्यथा से कुछ समय के लिए मुक्ति हेतु पिकनिक स्पॉट सदृश है ? वहाँ यथार्थ 'रोमांस' में तब्दील हो जाता है। रोमांस को सदैव क्लासिक का विलोम नहीं समझना चाहिए। समय और संदर्भ के बदल जाने से कई बार रोमान्टिक रचना क्लासिक में परिणत हो जाती है।

संक्षेप में, राष्ट्रीय अथवा जातीय संस्कृति लोक संस्कृति का किंचित् अधिक समृद्ध मंच है। वह उपन्यास में कथा के कैनवास को प्रकृति के विशाल परिदृश्य में उजागर करती है। 'लोक संस्कृति' से अपरिचय की स्थिति में मध्यवर्ग का महाकाव्य तो लिखा जा सकता है, 'राष्ट्रीय रूपक' नहीं। उपन्यास की भारतीय अवधारणा 'कृषक जीवन की महागाथा' के पक्ष में है तो एक किसान का चरित्रोत्कर्ष 'लोक संस्कृति' के चित्रण के बिना कैसे दृश्यमान हो सकता है ? आंचलिकता भारतीयता के लिए प्राणवायु सदृश है। 'कादम्बरी' हो या 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लोक संस्कृति के विशाल रंगमंच पर ही कहने-सुनने के लिए हैं।

–प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

■